निश्चय और व्यवहार धर्ममें साध्य-साधकभाव

धर्मका लक्षण

वस्तुविज्ञान (द्रव्यानुयोग) की दृष्टिसे "वत्थुसहावो धम्मो" इस आगमवचनके अनुसार धर्म यद्यपि आत्माके स्वतःसिद्ध स्वभावका नाम है। परन्तु अध्यात्म (करणानुयोग और चरणानुयोग) की दृष्टिसे धर्म उसे कहते हैं जो जीवको संसार-दुःखसे छुड़ाकर उत्तम अर्थात् आत्मस्वातंत्र्यरूप मोक्ष-सुखमें पहुँचा देता है[1]।

आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण

रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें[2] आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके रूपमें किया गया है, जिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसारके कारण होते हैं।

आध्यात्मिक धर्मका निश्चय और व्यवहार दो रूपोंमें विभाजन और उनमें साध्य-साधकभाव

श्रद्धेय पं० दौलतरामजीने छहढालामें[3] कहा है कि आत्माका हित सुख है। वह सुख आकुलताके अभावमें प्रकट होता है। आकुलताका अभाव मोक्षमें है। अतः जीवोंको मोक्षके मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिए। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। एवं वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सत्यार्थ अर्थात् आत्माके शुद्धस्वभावभूत हैं उन्हें निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं व जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चयमोक्षमार्गके प्रकट होनेमें कारण हैं उन्हें व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।

छहढालाके इस प्रतिपादनसे मोक्षमार्गका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमें विश्लेषण उनकी निश्चय और व्यवहार दो भेदरूपता व निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्षमार्गोंमें विद्यमान साध्य-साधक भाव इन सबका परिज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त पंचास्तिकायकी गाथा १०५ की आचार्य जयसेन कृत टीकामें भी व्यवहारमोक्षमार्गको निश्चयमोक्षमार्गका कारण बतलाकर दोनों मोक्षमार्गोंमें साध्य-साधक भाव मान्य किया गया है। तथा गाथा १५९, १६० और १६१ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकामें भी ऐसा ही बताया गया है।

निश्चयधर्मकी व्याख्या

करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार जीव अनादिकालसे मोहनीयकर्मसे बद्ध रहता आया है और उसके उदयमें उसकी स्वतःसिद्ध स्वभावभूत भाववतीशक्तिका शुद्ध स्वभावभूत परिणमनके विपरीत अशुद्ध विभावभूत परिणमन होता आया है। भाववतीशक्तिके इस अशुद्ध विभावरूप परिणमनकी समाप्ति करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार मोहनीयकर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक ही होती है। इस तरह जीवकी भाववतीशक्तिके अशुद्ध विभावभूत परिणमनके समाप्त हो जानेपर उसका जो शुद्ध स्वभावभूत परिणमन होता है, उसे ही निश्चयधर्म जानना चाहिए। इसके प्रकट होनेकी व्यवस्था निम्न प्रकार है—

---

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक २।

२. वही, श्लोक ३।

३. छहढाला, ३-१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(क) सर्वप्रथम जीवमें दर्शमोहनीयकर्मकी यथासंभवरूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोंका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववतीशक्तिका चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक निश्चयसम्यग्दर्शनके रूपमें व निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमें शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

(ख) इसके पश्चात् जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववतीशक्तिका पंचमगुणस्थानके प्रथम समयमें देशविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववतीशक्तिका सप्तमगुणस्थानके प्रथम समयमें सर्वविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है। ऐसा सप्तमगुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम इस तरह दोनों गुणस्थानोंमें यथायोग्य समय तक सतत झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) यदि वह सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव पहलेसे ही उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको प्राप्त हो अथवा सप्तम गुणस्थानके कालमें ही वह उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको प्राप्त हो जावे, तो वह तब करणलब्धिके आधारपर नवनोकषायोंके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण और तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण इन दोनों कषायोंकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका तथा उसके चतुर्थ भेद संज्वलन कषायकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका भी यथास्थान निश्चयसे उपशम या क्षय करता है और उपशम होनेपर उसकी भाववतीशक्तिका एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक, यथाख्यातनिश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें अथवा क्षय होनेपर उसकी भाववतीशक्तिका द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें क्षायिक-यथाख्यात-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।[1]

व्यवहार धर्मक व्याख्या

व्यवहारधर्मकी व्याख्या करनेसे पूर्व यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि नारकी, देव और तिर्यंच इन तीनों प्रकारके जीवोंमें केवल अगृहीत मिथ्यात्व पाया जाता है, अतः इनमें व्यवहारधर्मका व्यवस्थितक्रमसे विवेचन करना संभव नहीं है। केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है जिसमें अगृहीतमिथ्यात्वके साथ गृहीतमिथ्यात्व भी पाया जाता है। फलतः मनुष्योंमें व्यवहारधर्मका व्यवस्थितक्रमसे विवेचन करना संभव हो जाता है। अतः यहाँ मनुष्योंकी अपेक्षा व्यवहारधर्मका विवेचन किया जाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार पापभूत अघाती कर्मोंके उदयमें अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि

---

१. निश्चयमोक्षमार्गस्य परम्परया कारणभूतो व्यवहारमोक्षमार्गः।

(क) निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधकभावत्वात्। —समय०, गा० १५२ की टीका

(ख) निश्चयमोक्षमार्गसाधकभावेन व्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्। वही, गा० १६० की टीका

(ग) व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्। वही, गा० १६१ की टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्योंकी भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानके रूपमें और मस्तिष्कके सहारेपर अतत्त्वज्ञानके रूपमें मिथ्यापरिणमन होते रहते हैं तथा जब उनमें पुण्यभूत अघाती कर्मोंका उदय होता है तब अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानरूप परिणमनोंकी समाप्ति होनेपर उनकी उस भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानके रूपमें और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानके रूपमें सम्यक्परिणमन होने लगते हैं। भाववतीशक्तिके दोनों प्रकारके सम्यक्परिणमनोंमेंसे तत्त्वश्रद्धानरूप परिणमन सम्यग्दर्शनके रूपमें व्यवहारधर्म कहलाता है और तत्त्वज्ञानरूप परिणमन सम्यग्ज्ञानके रूपमें व्यवहारधर्म कहलाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानसे प्रभावित मिथ्यादृष्टि मनुष्य अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापभूत प्रवृत्तियाँ किया करते हैं और कदाचित् साथमें लौकिक स्वार्थकी पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करते हैं। तथा जब वे भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होते हैं, तब वे अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त संकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंको सर्वथा त्यागकर मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करने लगते हैं। इतना ही नहीं, भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानके आधारपर वे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य कदाचित् क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त संकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरंभीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका भी एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए अनिवार्य आरम्भीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं। इस प्रकार अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होकर अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप संकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंको सर्वथा त्यागकर जो अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप आरंभीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं, उन्हें नैतिक आचारके रूपमें व्यवहारधर्म कहा जाता है। तथा वे ही मनुष्य जब संकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक आरंभीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं, तब उन्हें सम्यक्चारित्रके रूपमें व्यवहारधर्म कहा जाता है।

प्रसंगवश मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्योंकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप हृदयके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वश्रद्धान व्यवहारमिथ्यादर्शन कहलाता है। और उनकी उस भाववतीशक्तिके ही परिणमनस्वरूप मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वज्ञान व्यवहारमिथ्याज्ञान कहलाता है। तथा मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान इन दोनोंसे प्रभावित उन मनुष्योंकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापभूत जो अशुभ प्रवृत्ति हुआ करती है वह व्यवहार मिथ्याचारित्र कहलाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि उक्त प्रकारके व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानके विपरीत व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानसे प्रभावित होकर वे भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य संकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका सर्वथा त्याग करते हुए यदि अशक्तिवश आरम्भी पापका अणुमात्र भी त्याग नहीं कर पाते हैं तो उनकी यह आरम्भी पापरूप अशुभ प्रवृत्ति व्यवहाररूप अविरति कहलाती है।

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार पूर्वमें मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होनेवाले भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यक्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान व देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यातसम्यक्चारित्रके रूपमें निश्चयधर्मका विवेचन किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है उसी प्रकार यहाँ प्रथम गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप मिथ्यात्वभूत निश्चयमिथ्यादर्शन, निश्चयमिथ्याज्ञान और निश्चय-मिथ्याचारित्रके रूपमें, द्वितीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी केवल अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें भाववती-शक्तिके परिणमनस्वरूप सासादनसम्यक्त्वभूत निश्चयमिथ्यादर्शन, निश्चयमिथ्याज्ञान और निश्चय-मिथ्याचारित्रके रूपमें एवं तृतीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप सम्यग्मिथ्यात्वभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके रूपमें निश्चय अधर्मका भी विवेचन कर लेना चाहिए। यहाँ भी यह ध्यातव्य है कि चतुर्थगुणस्थानके जीवमें नव नोकषायोंके उदयके साथ अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायोंके सामूहिक उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है उसे भाव-अविरति जानना चाहिए। इसे न तो भावमिथ्याचारित्र कह सकते हैं और न विरतिके रूपमें भावसम्यक्चारित्र कह सकते हैं, क्योंकि भावमिथ्याचारित्र अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें होता है और विरतिके लिए कम-से-कम अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम आवश्यक है।

उपर्युक्त दोनों प्रकारके स्पष्टीकरणोंके साथ ही यहाँ निम्नलिखित कुछ विशेषताएँ भी ज्ञातव्य हैं :

१. अभव्य जीवोंके केवल प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान हो होता है, जबकि भव्यजीवोंके प्रथम गुण-स्थान-मिथ्यादृष्टिसे लेकर चतुर्दश अयोगकेवली गुणस्थानपर्यन्त सभी गुणस्थान होते हैं।

२. निश्चयधर्मका विकास भव्य जीवोंमें ही होता है, अभव्य जीवोंमें नहीं होता। तथा भव्य जीवोंमें भी उस निश्चयधर्मका विकास चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयसे प्रारम्भ होता है, इसके पूर्वके गुणस्थानोंसे नहीं होता।

३. जीवके चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयमें जो निश्चयधर्मका विकास होता है, वह उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमें होता है। इसके पश्चात् जीवके पंचम गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप देशविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है तथा इसके भी पश्चात् जीवके निश्चयधर्मका विकास सप्तम-गुणस्थानके प्रथम समयमें उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप सर्वविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है और जीवमें उसका सद्भाव पूर्वोक्त प्रकार षष्ठ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उत्तरोत्तर उत्कर्षके रूपमें विद्यमान रहता है। दशम गुणस्थानके आगे जीवके एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप औपशमिक, यथाख्यात-निश्चयसम्यक्-चारित्रके रूपमें होता है अथवा दशम गुणस्थानसे ही आगे जीवके द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चय-धर्मका विकास उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप क्षायिक-यथाख्यात-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है तथा यह जीवके आगेके सभी गुणस्थानोंमें विद्यमान रहता है।

४. पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि पहला व्यवहारधर्म सम्यग्दर्शनके रूपमें जीवकी भाववतीशक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला परिणमन है और दूसरा व्यवहारधर्म सम्यग्ज्ञानके रूपमें जीवकी भाववतीशक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला परिणमन है एवं तीसरा व्यवहारधर्म नैतिक आचार तथा देशविरति व सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्रके रूपमें मन, वचन और कायके सहारेपर होनेवाला जीवकी क्रियावतीशक्तिका परिणमन है। इस सभी प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास प्रथमगुणस्थानमें सम्भव है और अभव्य व भव्य दोनों प्रकारके जीवोंमें हो सकता है। इतना अवश्य है कि उक्त सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूप तथा नैतिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचाररूप व्यवहारधर्मका विकास प्रथम गुणस्थानमें नियमसे होता है क्योंकि इस प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास किये बिना अभव्य जीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियोंका तथा भव्य जीवमें इन लब्धियोंके साथ करणलब्धिका भी विकास नहीं हो सकता है। प्रथम गुणस्थानमें देशविरति और सर्वविरति सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मके विकसित होनेका कोई नियम नहीं है, परन्तु देशविरति-सम्यक्-चारित्ररूप व्यवहारधर्मका विकास, चतुर्थ गुणस्थानमें नियमसे होकर पंचम गुणस्थानमें भी नियमसे रहता है। एवं सर्वविरति-सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका पंचम गुणस्थानमें नियमसे विकास होकर षष्ठसे दशम गुणस्थान तक उसका सद्भाव नियमसे रहता है।

यहाँ इतना अवश्य ध्यातव्य है कि सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उस व्यवहारधर्मका सद्भाव अंतरंग रूपमें ही रहा करता है। तथा द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोंमें यथासंभव रूपमें रहनेवाला व्यवहारधर्म भी अबुद्धिपूर्वक ही विद्यमान रहता है। एकादश गुणस्थानसे लेकर आगेके सभी गुणस्थानोंमें व्यवहारधर्मका सर्वथा अभाव रहता है। वहाँ केवल निश्चयधर्मका ही सद्भाव रहता है।

जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्मपूर्वक होती है

प्रकृतमें 'मोक्ष' शब्दका अर्थ जीव और शरीरके विद्यमान सहयोगका सर्वथा विच्छेद हो जाना है। जीव और शरीरके विद्यमान संयोगका सर्वथा विच्छेद चतुर्दश गुणस्थानमें तब होता है जब उस जीवके साथ बद्ध चार अघाती कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको चतुर्दश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब त्रयोदश गुणस्थानमें कर्मास्रवमें कारणभूत जीवके योगका सर्वथा निरोध हो जाता है। जीवको त्रयोदश गुण-स्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घाती कर्मोंका द्वादश गुणस्थानमें सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको द्वादश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध मोहनीयकर्मप्रकृतियोंका पूर्वमें यथासमय क्षय होते हुए दशम गुणस्थानके अन्त समयमें शेष सूक्ष्म लोभप्रकृतिका भी क्षय हो जाता है। द्वादश गुणस्थानका अर्थ ही दशम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीयकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप शुद्ध स्वभावभूत निश्चय-धर्मकी पूर्णता हो जाना है। इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्मपूर्वक होती है।

जीवको निश्चयधर्मकी प्राप्ति व्यवहारधर्मपूर्वक होती है

जीवके भाववतीशक्तिका निश्चयधर्मके रूपमें प्रारंभिक विकास चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें होता है और उसका वह विकास पंचमादि गुणस्थानोंमें उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होकर एकादश गुणस्थानके प्रथम औपशमिक-यथाख्यात-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें अथवा द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें क्षायिक-यथा-ख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें पूर्णताको प्राप्त होता है। निश्चयधर्मका यह विकास मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोंके यथास्थान यथासम्भव रूपमें होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होता है। तथा मोहनीय-कर्मकी प्रकृतियोंका यथायोग्य वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम भव्य जीवमें आत्मोन्मुखरूप करणलब्धिका विकास होनेपर होता है व उसमें उस करणलब्धिका विकास क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासपूर्वक होता है। एवं जीवमें इन लब्धियोंका विकास व्यवहारधर्मपूर्वक होता है। यह व्यवहारधर्म अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप होता है। जीवको इसकी प्राप्ति तब होती है जब उस जीवमें भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाला तत्त्वश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यग्दर्शन और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला तत्त्वज्ञानरूप व्यवहारसम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है। इसके विकासकी प्रक्रियाको पूर्वमें व्यवहार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मकी व्याख्यामें बतलाया जा चुका है। इस विवेचनसे यह निर्णीत होता है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें कारण होता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जीवको अपनी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयकी उत्पत्तिमें कारण-भूत मोहनीयकर्मका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम करनेके लिए इस व्यवहारधर्मके अन्तर्गत एकान्त-मिथ्यात्वके विरुद्ध प्रशमभाव, विपरीतमिथ्यात्वके विरुद्ध संवेगभाव, विनयमिथ्यात्वके विरुद्ध अनुकम्पाभाव, संशयमिथ्यात्वके विरुद्ध आस्तिक्यभाव और अविवेकरूप अज्ञानमिथ्यात्वके विरुद्ध विवेकरूप सम्यग्ज्ञानभावको भी अपनेमें जागृत करनेकी आवश्यकता है। इसी प्रकार जीवको समस्त जीवोंके प्रति मित्रता (समानता) का भाव, गुणीजनोंके प्रति प्रमोदभाव, दुःखी जीवोंके प्रति सेवाभाव और विपरीत दृष्टि, वृत्ति और प्रवृत्ति वाले जीवोंके प्रति मध्यस्थता (तटस्थता) का भाव भी अपनानेकी आवश्यकता है। इस तरह सर्वांगीणताको प्राप्त व्यवहारधर्म उपर्युक्त प्रकार निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें साधक सिद्ध हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org